Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 16, Issue No. 9, June-2019, ISSN 2230-7540

हिन्दी साहित्य में आदिवासी-विमर्श

Manish Solanki*

Student, Sanatan Dharma Government College, Beawar, Ajmer, Rajasthan

सार – ***दुनिया के आदिवासी समाजों ने अपनी लड़ाइयाँ खुद ही लड़ी हैं, लेकिन मुख्यधारा के क्रांतिकारी साहित्यों ने भी उनके प्रति मानवीय संवेदनशीलता प्रदर्शित करते हुए उनकी चिन्ताओं के चित्रण की जहमत नहीं उठाई। सवाल यह उठता है कि आखिरि उनकी चिन्ता किसी को क्यों नहीं है? क्यों यह समुदाय आज भी हाशिये पर की जिन्दगी जीने को अभिशप्त है? साहित्य यदि बाजार के लिए नहीं है, मनुष्य और मनुष्यता के लिए है, तो हिंदी साहित्य की प्रस्तुति आदिवासी समाज के बगैर क्यों है? हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में यह प्रश्न प्रेमचंद से ज्यादा प्रेमचंद की परंपरा का वाहकों से है कि प्रेमचंद से छूट गया आदिवासी आज भी उनकी परंपरा से क्यों बहिष्कृत है? लेकिन, इस प्रश्न का जवाब न मिलता देख पिछले दशकों के दौरान इस शून्य की भरपाई की दिशा में खुद आदिवासियों को पहल करनी पड़ी।***

----------X----------

प्रस्तावना

समकालीन हिन्दी साहित्य स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श से आगे बढ़ने की कोशिश कर रहा है और हिंदी में आदिवासी विमर्श सबसे नया विमर्श है। ऐसा नहीं कि हिंदी में इससे पहले आदिवासियों के जीवन पर नहीं लिखा गया, लेकिन पिछले ढाई दशकों के दौरान उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की तेज होती प्रक्रिया के साथ जिस तरह से आदिवासियों के जीवन में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हस्तक्षेप को बढ़ाया और इसके कारण उनके जल, जंगल एवं जमीन से सम्बंधित पारंपरिक अधिकारों का अतिक्रमण शुरू हुआ, इसने आदिवासी क्षेत्रों में संघर्ष को तेज किया और इस संघर्ष में राजसत्ता एवं प्रशासन का हस्त क्षेप बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं कॉर्पोरेट्स के पक्ष में तथा आदिवासियों के विरुद्ध रहा। इसने आदिवासियों के समक्ष अस्तित्व एवं अस्मिता के विकट प्रश्न को जन्म दिया जिसमें यदि वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को अहमियत देते हैं, तो उनका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है और अगर वे अपने अस्तित्व को प्राथमिकता देते हैं, तो उनकी सांस्कृतिक पहचान खतरे में पड़ सकती है। ध्यातव्य है कि यूनेस्को ने भारत की जिन 196 जन-भाषाओं के अस्तित्व को खतरे में बतलाया, उनमें अधिकांश भारत की आदिवासी भाषाएँ हैं। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासियों की अस्तित्वगत एवं अस्मितागत बेचैनी ने एक पृथक एवं स्वतंत्र धारा के रूप में आदिवासी विमर्श की संभावनाओं को बल प्रदान किया। इसके परिणामस्वरूप दलितों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए आदिवासियों की समस्याओं पर लेखन की दिशा में खुद आदिवासियों ने ही पहल की।

अध्ययन के उदेश्य

1. आदिवासी-अस्मिता को वृहत्तर समाज से काटकर देखने की बजाय शोषित-उत्पीड़ित वर्ग और शोषक वर्ग के बीच चले आ रहे पारंपरिक संघर्ष के रूप में देखा है।

2. आदिवासियों के संघर्ष को एक व्यापक संघर्ष के हिस्से के रुप में देखा गया है।

साहित्य में आदिवासी

यद्यपि प्रेमचंद के कथा-साहित्य में आदिवासियों को जगह नहीं मिली है और न ही उनका आदिवासियों के जीवन से परिचय था, तथापि उनकी रचनाओं में दो जगहों पर आदिवासियों की चर्चा मिलती है 'गोदान' उपन्यास में और 'सद्गति' कहानी में। गोदान में शिकार-प्रसंग में मेहता और मालती की टोली शिकार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जंगल के एक ऐसे हिस्से में पहुँच जाती है, जहाँ उनकी मुलाकात वन-कन्या अर्थात् आदिवासी लड़की से होती है। प्रेमचंद ने उस वन-कन्या का चित्रण करते हुए पारंपरिक सौंदर्य चेतना के आलोक में भले ही उसे कुरूप बतलाया हो, पर उसके मांसल शरीर का वर्णन करते हुए मिस्टर मेहता को उसके प्रति

www.ignited.in

आकृष्ट और उसके सेवा-भाव की प्रशंसा करते हुए दिखलाया है। यह वन-कन्या मेहता की पत्नी की कसौटी पर खड़ी उतरती है, अब यह बात अलग है कि दोहरे मानदंडों के साथ जीने वाले मेहता उसे अपनी पत्नी के रूप में नहीं स्वीकारते, वरन् वह मालती को ऊत्तेजित करने और अपने प्रति आकृष्ट करने के साधन भर में तब्दील होकर रह जाती है। मेहता पूरे प्रसंग में आदिवासी लड़की के 'अंगों का विलास' देखते रहते हैं और मालती से डाँट खाने के बाद आते समय कहते हैं, 'अब मुझे आज्ञा दो, बहन'। प्रेमचंद पूरे प्रसंग में उस आदिवासी लड़की को नाम भी नहीं देते और उसे 'गँवारिन' बनाने की कोशिश करते हैं।

इसी प्रकार 'सद्गति' कहानी आदिवासी संदर्भ में प्रेमचंद के लेखन में आशा की किरण की तरह देखी जा सकती है। इस कहानी में विद्रोही चेतना से लैस एकमात्र पात्र है चिखुरी गोंड़। वह दुखी को पंडित घासीराम के शोषण से बचाने की हर संभव कोशिश करता है, लेकिन धर्मसत्ता के आत्मसातीकरण से उपजे भय के कारण दुखी उससे निकल नहीं पाता और त्रासद मौत का शिकार होता है। उसकी मौत के बाद चमरौने में जाकर वही दलितों को इस अन्याय की खबर देता और आंदोलित करने की कोशिश करता है, 'खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है एक गरीब की जान ले ली। पंडितजी होंगे, तो अपने घर के होंगे।' इसके बाद पुलिस के भय से कोई भी दलित लाश उठाने नहीं जाता। इस तरह यह कहानी हिंदू धार्मिक संस्कारों से मुक्त एक गोंड़ के माध्यम से ब्राह्मणवाद के खिलाफ लड़ाई की कहानी है, जिसमें दलित और आदिवासी एकता की जरूरत की ओर संकेत भी है।

गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी- विमर्श

स्पष्ट है कि प्रेमचंद भले ही आदिवासी रचनाकार न हों, पर उन्होंने अपनी रचनाओं के जरिये उस महाजनी सभ्यता के विरुद्ध आवाज उठाई जिनका आदिवासी जीवन एवं समाज में हस्तक्षेप आज भी बदस्तूर जारी है और जो आदिवासी दमन एवं शोषण के मूल में मौजूद है। इन महाजनों की जड़ें आदिवासी क्षेत्रों में न होकर सेमरी एवं बेलारी जैसे गाँवों में हैं और प्रेमचंद इनकी इन्हीं जड़ों पर प्रहार करते हैं। इसीलिए केदार प्रसाद मीना ने सही ही कहा है कि "प्रेमचंद, रेणु, संजीव और रणेंद्र आदि का साहित्य आदिवासी साहित्य न सही, पर आदिवासियों की समस्याओं पर लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य है।" वे इस निष्कर्ष के साथ उपस्थित होते हैं कि "उनकी रचनाओं में आदिवासी जीवन की झलक उतनी ही है, जितनी उस जगह पर आदिवासी आबादी है।" उनका यह भी प्रश्न है कि यदि आज की आदिवासी राजनीति 'छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम' में संशोधन के जरिये आदिवासियों की जमीन खरीद-बिक्री के मार्ग को प्रशस्त कर रही है, तो इसमें कोई 'प्रेमचंद' क्या कर सकते हैं? इसी प्रकार अगर आदिवासी विमर्श दलित-विमर्श का रास्ता अख्तियार करता है, तो किसी दिन फणीश्वरनाथ 'रेणु' के बारे में भी कहा जा सकता है कि उन्होंने 'मैला आँचल' में संथालों को पिटता दिखा कर आनंद प्राप्त किया या उन्हें अपमानित किया है, जो कि सत्य नहीं है।

आदिवासी समस्याओं पर रणेंद्र और संजीव जैसे अच्छे लेखकों की रचनाओं के पात्रों की ऐसी डायरियों, जिनमें आदिवासी समाज का दर्द दर्ज है, को यह उनकी निजी डायरी कह कर इसके बहाने संपूर्ण रचना को खारिज कर रहे हैं। संजीव-रणेंद्र के आदिवासी इलाकों में काम करने वाले पात्र: सुदीप्त और किशन आदि सभी 'दिकू' नहीं कहे जा सकते। इनकी डायरियाँ महज उनकी निजी डायरियाँ नहीं हैं। ये आदिवासी विस्थापन और उसके खिलाफ संघर्ष के दस्तावेज भी हैं, क्योंकि न तो सरकारें इन्हें दर्ज करती हैं और न विस्थापित करने वाली कंपनियाँ। निरक्षर आदिवासी तो दर्ज कर ही नहीं सकते। ऐसे में इन लेखकों की रचना और इनके पात्रों की डायरियों का महत्व बढ़ जाता है। इसलिए इन लेखकों के साहित्य को 'दिकू' साहित्य कहना आदिवासी विमर्श का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। 'जनसत्ता' में प्रकाशित आलेख 'आदिवासी विमर्श के रोड़े' के जरिये केदार प्रसाद मीणा आदिवासी-विमर्श को 'सहानुभूति-समानुभूति' के उस विवाद में उलझने से बचने की सलाह देते हैं जिसने दलित-विमर्श को 'साहित्य की राजनीति' में ले जाकर उलझा दिया।

आदिवासियों द्वारा आदिवासी- विमर्श

पिछले दो दशकों में हिन्दी संसार में आदिवासी लेखकों, विशेषकर झारखंड क्षेत्र के लेखकों ने अपनी पैठ और पहचान बनाई है। आज आदिवासी कलम की धार आँचलिक, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर तक असरदार बन चुकी है। हेराल्ड एस. टोप्पो और रामदयाल मुंडा ने पत्र-पत्रिकाओं में अपनी नियमित उपस्थिति के जरिये 'जंगल गाथा' से लेखक-पत्रकार के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण के लिहाज से एन. ई. होरो, निर्मल मिंज, रोज केरकेट्टा, प्रभाकर तिर्की, सूर्य सिंह बेसरा और महादेव टोप्पो आदि का योगदान अर्थपूर्ण और महत्वपूर्ण है। पत्रकारिता में विवेचना, साक्षात्कार या रिपोर्ताज की शैली में अपने संवाद को प्रभावी बनाने के लिहाज से वासवी, दयामनी बरला, सुनील मिंज और शिशिर टुडु ने अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करवायी है। इनमें अपने वर्ग-समाज-राजनीति-संस्कृति से बाहर की दुनिया के मसलों

के बारे में खामोशी दिखती है और यही कारण है कि देश और दुनिया की बेहतरी के लिए इनकी चिंताएँ और सपने अपने परिवेश तक सीमित हैं। अगर आदिवासी-विमर्श को साहित्य-लेखन के धरातल पर देखें, तो आदिवासी रचनाशीलता मुख्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास और संस्मरण के धरातल पर प्रकट होती हैं। आलोचना और व्यंग्य के क्षेत्र में इनका लेखन अभी आरंभिक चरण में है, लेकिन यहाँ भी बुदु उराँव और मंजु ज्योत्स्ना ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है।

आदिवासी अस्मिता

आदिवासी-लेखन हिंदी के अस्मितावादी विमर्शों में सबसे नवीन है। वर्षों से हाशिए पर रखे गये आदिवासी समुदाय को आज साहित्य में जगह मिल रही है और इससे भी अच्छी बात यह है कि इस दिशा में खुद इस समुदाय के लोगों के द्वारा ही पहल की जा रही है। इस दृष्टि से समकालीन कवि अपनी कविताओं में आदिवासियों के जीवन, उनकी स्थितियों, उनके संघर्षों, उनकी आकांक्षाओं और उनके सपनों को कविता में अभिव्यक्त कर रहे हैं। महत्वपूर्ण यह है कि आरंभिक और ज्यादातर आदिवासी साहित्य वाचिक परम्परा का हिस्सा रहा है और इसीलिए यह गीत या कविता के माध्यम से हमारे सामने आता है। यही कारण है कि आदिवासी साहित्य की विधाओं में 'कविता' सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा रही है। इनमें उनके भोगे हुए सत्य के साथ-साथ आदिवासी समाज के सामाजिक-वैयक्तिक जीवन-संघर्ष को अभिव्यक्ति मिली है। इनमें विभिन्न सामाजिक विद्रोह, नारी के जीवन-संघर्ष, विस्थापन, अशिक्षा, अभाव एवं गरीबी और अस्तित्व के प्रश्न को प्रमुखता मिली है।

झारखण्ड की संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल ने हिन्दी कविता में अपनी रचना 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' के जरिये अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करवायी है। इसी प्रकार 'नदी और उसके संबंधी तथा अन्य नगीत' और 'वापसी, पुनर्मिलन और अन्य नगीत' कविता-संग्रह के जरिये रामदयाल मुंडा ने भी पाठकों और आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। उनकी परवर्ती कविताओं में प्रकृति और मनुष्य के आदिम राग-विराग की जगह राजनीति और समाज की विसंगतियों ने ले ली है। कथन शालवन कगे अंतिम शाल का और विकास का दर्द में उजाड़ बनते झारखंड की व्यथा-कथा और विसंगतियों का उद्घाटन हुआ है। पिछले वर्षों में ग्रेस कुजूर, मोतीलाल, और महादेव टोप्पो की कई कविताएँ भी खूब सराही गयीं। इन कविताओं की हिन्दी पट्टी की कविताओं से भिन्न एवं विशिष्ट है और इस विशिष्ट पहचान का सम्बन्ध जुड़ता है, प्रतीक चरित्रों और घटनाओं के संष्लिष्ट कथात्मक निवेश और प्रतिरोध के आंचलिक रंग से। इसमें जिस यथार्थ का वर्णन हुआ है, वह अमूर्त नहीं है और न ही यह हवा-हवाई है। दरअसल इसके मूल में सहानुभूति की बजाय समानुभूति है और इसीलिए इसमें सतहीपन की बजाय आदिवासी-जीवन से अंतरंगता परिलक्षित होती है, जिसे निम्न परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है

आदिवासी अस्मिता का प्रश्न

समकालीन हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी अस्मिता को पहचाने की कोशिश की है। पूर्वोत्तर के आदिवासियों का आंदोलन अपनी पहचान का आंदोलन है। अपनी पुरातन संस्कृति का ह्रास और उसमें आनेवाली विकृतियों को देखकर उनका कवि-मन तिलमिला उठता है। वह देखता है कि पश्चिम के हस्तक्षेप के कारण उसकी हीन-भावना गहराती जा रही है और इस मनःस्थिति में 'दिकुओं' के द्वारा उसका इस्तेमाल आसान हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे अपनी ही जमीन एवं अपनी ही बिरादरी के प्रति गद्दारी से भी परहेज नहीं होता। यह आदिवासी-अस्मिता पर उत्पन्न संकट को गहराने का काम करता है। यह स्थिति आदिवासी कवियों को इस प्रभाव एवं इस प्रभाव में अपने ऊपर लादे गए संस्कार पर करारे प्रहार के लिए विवश करती है। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें मेघालय के कवि 'पॉल लिंग दोह' की 'बिकाऊ है' कविता इस स्थिति के लिए आदिवासियों को ही जिम्मेवार मानती है और उन्हें कोसते हुए कहती है: बिकाऊ है हमारा स्वाभिमान, हमारी मान्यताएँ, हमारी सामूहिक चेतना, अतिरिक्त बोनस: ये सारी चीजें लुटाने के भाव उपलब्ध हैं। विशेष: संपर्क के लिए टेलिफोन नंबर की जरुरत नहीं, हमारे एजेंट हर कहीं हैं।

स्पष्ट है कि आदिवासी की मूल पहचान उसकी संस्कृति से जुड़ी हुई है। जबतक यह संस्कृति है, तबतक उनकी पहचान सुरक्षित है और जैसे ही यह संस्कृति खतरे में पड़ेगी, उनकी पहचान खतरे में पड़ जायेगी। आज वाकई बाजारवाद के कारण आदिवासियों की यह पहचान खतरे में है।

आदिवासी स्त्री की अस्मिता

अंग्रेजों के साथ-साथ जमींदारों, साहूकारों और महाजनों के द्वारा उनके शारीरिक शोषण और पुरुषों के उनके प्रति अमानुषिक बर्ताव और उनके दमन, शोषण एवं उत्पीड़न की लम्बी परम्परा रही है तथा इसके विरुद्ध उन्होंने समय-समय पर आवाज भी बुलंद की है। इतना ही नहीं, आदिवासी समाज के सामने विस्थापन एक ऐसी समस्या के रूप में

सामने आती है जो उन्हें सांस्कृतिक, मानसिक और भौगोलिक तौर पर बदलकर रख देती है और इसकी पृष्ठभूमि में आदिवासी स्त्रियाँ देह में तब्दील होकर रह जाती हैं। सभ्य समाज उसकी देह की गंध से रोमांचित हो उठता है और फिर शुरू होता है देह को खरीदने एवं बेचने का अंतहीन सिलसिला।

यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासी साहित्य में स्त्रियों के बहुत से सवालों को महत्व मिला है। इसमें इस समाज की प्रताड़ित महिलाओं की पीड़ा एवं वेदना, उनकी अंतर्वेदना, उनकी कराह एवं चीख और मदद के लिए उनके द्वारा लगाई जा रही गुहारें पहाड़ों, जंगलों और घाटियों में बज रहे नगाड़े की तरह गूँज उठती हैं। निर्मला पुतुल की कवितायें इसकी प्रमाण हैं जिनमें आदिवासी स्त्री के जीवन का चित्रण करते हुए स्त्री-अस्मिता का सवाल उठाया गया है और आदिवासी समाज के साथ-साथ स्त्री के विविध पहलू पर भी टिप्पणी की गयी है।

काव्यगत सौंदर्य

आदिवासियों के द्वारा लिखी जा रही कविताओं में जिन प्रतीकों, बिम्बों और मिथकों का प्रयोग किया जा रहा है, वे उनके जीवन और उनकी संस्कृति से उठाये जा रहे हैं। इनमें मिथक उन लोक-परंपराओं से उठाये गए हैं जिनका संबंध उनके समाज एवं संस्कृति के साथ जुड़ता है और इसीलिए वे प्रचलित मिथकों से बिल्कुल अलग हैं। उनके मिथक प्राचीनतम ग्रन्थों से संपृक्त रहते हैं और ये प्रकृति से गहरे स्तर पर सम्बद्ध होते हैं। इस तरह इनकी कविता में प्रसंग अनायास ही जुड़ते चले आते हैं। स्पष्ट है कि आदिवासी कविता वह जमीन तैयार करती है जो आदिवासी समाज और साहित्य के विविध पहलुओं को समझने में मददगार है।

हिन्दी उपन्यास में आदिवासी विमर्श

हिन्दी जगत पहले-पहल आदिवासी समाज से रूबरू हुआ रेणु के आँचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' में, जब उसने अपने जमीनी हक से बेदखल संथालों को अपने स्वत्व और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते देखा। यहीं उसका परिचय आदिवासियों की जिजीविषा और जीवटता से भी हुआ और उसने देखा कि प्रशासन की बेरुखी और जुल्म का शिकार होने के बावजूद माँदर एवं डिग्गे की आवाज बंद नहीं हो पाई। लेकिन, एक सच्चे हमदर्द की तरह पीड़ित संथालों के प्रति सहानुभूति के बावजूद यह संघर्ष तार्किक परिणति तक नहीं पहुँच पाता, फलतः उनके जीवन में बदलावों को ला पाने में असमर्थ रहता है। रेणु की समाजवादी यथार्थवादी चेतना और उनका यथार्थवादी आग्रह उन्हें इस समस्या का काल्पनिक एवं आदर्शपरक समाधान देने से रोक देता है। ऐसा नहीं कि 'मैला आँचल' के बाद आदिवासी जीवन को लेकर रचनाएँ नहीं आयीं, पर उनमें, विशेषकर बस्तर जैसे अंचलों को लेकर लिखी गयी रचनाओं में लेखक की दिलचस्पी स्वच्छंद प्रेम की घोटुल-प्रथा जैसे अतिरेकवादी तत्वों को लेकर कहीं ज्यादा थी। आगे चलकर महाश्वेता देवी के उपन्यास 'हजार चैरासी की माँ' एक सशक्त एवं प्रभावी हस्तक्षेप के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी और नक्सलवाद को लेकर एक नए नजरिए से हिन्दी जगत को रूबरू करवाया। उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की कि नक्सली हिंसा ऐतिहासिक परिस्थितियों और एक लम्बे समय से चले आ रहे ऐतिहासिक अन्याय की उपज है। अपने परवर्ती उपन्यासों में भी महाश्वेता देवी ने आदिवासियों की विद्रोही चेतना को अभिव्यक्ति देते हुए हिन्दी के पाठकों को बिरसा मुण्डा जैसे महानायक से परिचित करवाया।

लेकिन, औपन्यासिक धरातल पर आदिवासी विमर्श की परम्परा 1980 के दशक में शुरू होते देखा जा सकता है। हेराल्ड एस. टोप्पनो के अधूरे (प्रकाशित) उपन्यास को पढ़ते हुए एक विस्फोटक संभावना से भेंट होती है। आठवें दशक में वाल्टर भेंगरा ने झारखण्ड अंचल और वहाँ के जीवन को केंद्र में रखते हुए 'सुबह की शाम' उपन्यास लिखा जो आदिवासियों के द्वारा लिखा गया पहला हिन्दी उपन्यास है। पिछले दशक में उनके तीन उपन्यास: तलाश, गैंग लीडर और कच्ची कली प्रकाशित हुए। लेकिन, पिछले दिनों पीटर पाल एक्का के उपन्यास जंगल के गीत की सबसे अधिक चर्चा हुई जिसके जरिये एक्का ने बिरसा मुण्डा के उलगुलान के संदेश को तुंबा टोली गाँव के युवक करमा और उसकी प्रिया करमी के माध्यम से पहुँचाने की कोशिश की। इससे पहले भी उनका एक उपन्यास मौन घाटी के नाम से प्रकाशित हो चुका है। झारखंड के इन आदिवासी कथाकारों की समस्या यह है कि वे आधुनिक लेखन के सामयिक रूझानों और शिल्प-साँचों से अपरिचित प्रतीत होते हैं। लेकिन, मुख्यधारा इसकी कुछ हदतक भरपाई करती हुई आती है। इस दृष्टि से रमणिका गुप्ता के उपन्यास 'सीता-मौसी' और कैलाश चंद चैहान के उपन्यास 'भँवर' के साथ-साथ संजीव एवं रणेंद्र के उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। राजस्थान के बड़े आंदोलन से जुड़े होने के कारण हरिराम मीना के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' को भी काफी चर्चा मिली है जिसे बिहारी सम्मान से नवाजा गया।

उपसंहार

स्पष्ट है कि आदिवासी समाज सदियों से जातिगत भेदों,वर्ण व्यवस्था, विदेशी आक्रमणों, अंग्रजों और वर्तमान में सभ्य कहे जाने वाले समाज (तथाकथित मुख्यधारा के लोग)

द्वारा दूर-दराज जंगलों और पहाड़ों में खदेड़ा गया है। अज्ञानता और पिछड़ेपन के कारण उन्हें सताया गया है। अक्षरज्ञान न होने के कारण यह समाज सदियों से मुख्यधारा से कटा रहा, दूरी बनाता रहा। उनकी लोककला और उनका साहित्य सदियों से मौखिक रूप में रहा हैं और इसका कारण रहा उनकी भाषा के अनुरूप लिपि का विकसित न हो पाना। यही कारण साहित्य जगत में आदिवासी रचनाकार और उनका साहित्य गैर-आदिवासी साहित्य की तुलना में कम मिलता है। आज भले ही आदिवासियों की रचनाओं में एक प्रकार की अनगढ़ता एवं खुरदरापन दिखे और कलात्मक बारीकियों के आलोक में उनका मूल्यांकन पाठकों एवं आलोचकों को निराश करता हो, पर इसका महत्व इस बात में है कि इसने मुख्यधारा के द्वारा उपेक्षित एवं तिरस्कृत आदिवासी समाज एवं उनके जीवन से व्यापक समाज को परिचित करवाने की कोशिश की।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी डॉ. रमणिका गुप्ता
2. आदिवासी साहित्य विमर्श: चुनौतियाँ और संभावनाएँ: गंगा सहाय मीना
3. प्रेमचंद साहित्य में आदिवासी: गंगा सहाय मीना
4. राजनीतिक नक्शे में गायब होता उपन्यास: चंदन श्रीवास्तव
5. आदिवासी विमर्श: धर्म, संस्कृति और भाषा का सवाल कहाँ है?: वीर भारत तलवार
6. आदिवासी विमर्श के रोड़े: केदार प्रसाद मीणा
7. आदिवासी अस्मिता और समकालीन हिन्दी कविता: हनुमान सहाय मीना
8. आदिवासी कविताओं में चित्रित विद्रोही स्वर: गणेश डी. के.
9. अस्मिता ही नहीं अस्तित्व का सवाल: हरिराम मीणा

Corresponding Author

Manish Solanki*

Student, Sanatan Dharma Government College, Beawar, Ajmer, Rajasthan

manishmali1704@gmail.com